

जनजाति समाज के आर्थिक विकास में वन उपज का महत्व (दक्षिण राजस्थान के विशेष संदर्भ में)

कान्तिलाल निनामा म.द.स.वि.वि. अजमेर

शोध सारांश

जनजातीय अर्थव्यवस्था के विकास की यात्रा भूख और भय से मुक्ति के प्रयास तथा सुरक्षित आवास एवं भोजन से प्रारंभ होकर वनों के ईर्द-गिर्द संघर्ष कि निरंतरता है। वन धरती पुत्र जनजातियों की बहुमूल्य प्राकृतिक संपत्ति है, जिसके सहारे उनकी समाजिक, आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। आदिमकाल से जनजाति संस्कृति व वनों का चोली-दामन का साथ रहा है। प्रारंभ से ही जनजातियों का निवास वन क्षेत्रों में ही रहा है। वनों ने जनजातिय जीवन एवं संस्कृति के उद्भव, विकास तथा संरक्षण में आधारभूत भूमिका प्रस्तुत की है। प्रस्तुत आलेख मुख्यतः द्वितीयक आंकड़ों पर आधारित है।

राजस्थान का सुदूर दक्षिणी भाग वागड़ प्रदेश के नाम से विख्यात है। वागड़ के बांसवाड़ा और डुगरपूर जिले जनजाति उपयोजना क्षेत्र में सम्मिलित है। यह दोनों ही जिले भील जनजाति बाहुल्य जिले है। परंतु इस क्षेत्र में डामोर, गरासिया और भील-मीणा जनजातियाँ निवास करती है। लगभग 70 प्रतिशत जनजातीय आबादी वाला वागड़ का विशाल क्षेत्र 23°1 से 24°1 उत्तरी अक्षांश 73°1से 74°1 पूर्वी देशांतरों के मध्य स्थित है, जिसका क्षेत्रफल करीब 4000 वर्ग मील है।¹

यह जनजातीय बाहुल्य क्षेत्र आधुनिक चमक दमक से कटा हुआ अवश्य है, तथापि प्राचीन सांस्कृतिक परंपरा अक्षुण्ण बनाए रखने में अग्रणीय है। वागड़ की जनजातियों के धार्मिक आस्थाओं ओर विश्वासों से प्रकट होता है कि जनजातीय सामाजिक जीवन सौलह संस्कारों में बंधा हुआ है।² जनजातीय प्रायः शहरी सभ्यता से बहुत दूर घने जंगलों, पर्वतों, घाटियों एवं पठारी क्षेत्रों में निवास करते हैं। भारतीय सविधान 1950 के अनुच्छेद उपखंड 1 में सूचना द्वारा जनजाति या जनजातियों के भीतरी समूह में परिभाषित किए जाएंगे वे सब अनुसूचित जनजाति कहलाएँगे।³

जनजातियों की अर्थव्यवस्था

भारत में प्राचीन काल से जनजातिया जंगलों में अपना जीवनयापन करती रही है। इन जनजातियों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना, वन उपज को एकत्रित करना, पशुपालन, आखेट जंगलों से अनउपयोगी लकड़ियाँ निकालना, झूम पद्धति से कृषि करना मिलने पर मजदूरी करना आदि रहा है।⁴

आदिम जनजातियों का आर्थिक दृष्टि से विभाजन मजूमदार तथा मदान⁵ ने चार वर्गों में विभाजित किया है-

1. भारतीय आदिवासी जनजातियों का एक बड़ा भाग वनों पर निर्भर रहा है। यह प्रायः वनों में या उनके निकट निवास करते हैं। भोजन जमा करना ही उनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुखता है। ये लोग झूम पद्धति से कृषि करते हैं।
2. दूसरी श्रेणी में वे आदिवासी आते हैं, जो भोजन संग्रहीता तथा आदिम कृषि व्यवस्था के

1. दोसी, शम्भुलाल एवं व्यास. (1992). राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ. उदयपुर : हिमांशु पब्लिकेशन्स, पृ.स. 7-8
2. मेहता, जोधसिंह. (1954). आदिवासी भील. उदयपुर : साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, पृ. स. 19-20
3. दूबे, एस. सी. (1986). ट्राइवल हेरिटेज ऑफ इण्डिया. नई दिल्ली : विकास पब्लिसिटी हाउस, पृ.स. 2-4
4. मीणा, जगदीश चन्द्र. (2003). भील जनजाति का सांस्कृतिक एवं आर्थिक जीवन. उदयपुर : हिमांशु पब्लिकेशन्स, पृ.स. 49
5. मजूमदार एवं मदान. (1978). द रेस एण्ड कल्चरल ऑफ इण्डिया एन्थ्रोपोलॉजी, नई दिल्ली पृ.स. 153

प्रकारों के बीच है।

6. तिवारी, शिव कुमार. (1998). मध्य प्रदेश के आदिवासी मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल पृ.स. 183-192

7. माथुर एवं पी. भील रेजिस्ट्रेस मूवेमन्ट, पृ.स. 9-12

8. तिवारी शिव कुमार मध्यप्रदेश के आदिवासी पृ.स. 183

3. तीसरी श्रेणी में कृषि के साथ साथ जंगलों से वनपत्तों का संचय करते हैं।
4. चौथी श्रेणी में स्थायी कृषि जो हल एवं उनसे संबंधित पशुओं का प्रयोग कृषि कार्य में करते हैं।

खेती और इसके तरीके

जनजातियों ने बीना किसी भय के संघन वनों में जंगली जानवरों व प्राकृतिक आपदाओं से लड़ते हुए अपने जीवन को संघर्षमय बनाया। उन्होंने कृषि के लिए सर्वप्रथम जंगलों को काटकर जलाया। भूमि साफ कर कृषि के योग्य बनाई और पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। धीरे-धीरे विभिन्न गाँवों तथा कस्बों का निर्माण किया गया। जनजातीय लोग प्रारंभ से ही प्रकृति पुत्र रहे हैं। उनका आर्थिक जीवन भी बड़ा विचित्र रहा है। उनके जीवन में आर्थिक व्यवस्था तथा भौतिक वातावरण में प्रकृति का बड़ा योगदान रहा है। अतः स्वभाविक है कि आदिम मानव पर भी उनकी विभिन्न आवश्यकताओं के निर्धारण में आर्थिक पक्ष महत्वपूर्ण माना जाता है।

जनजातियों की अधिकांश जनसंख्या दुर्गम क्षेत्रों में निवास करती है। ये संचार के साधनों, नगरों और कस्बों से दूर थे, फलतः संपर्क के अभाव में गैर जनजातीय क्षेत्रों की कृषि संबंधी उन्नत विधियों से जनजातीय लोग अनभिज्ञ रहे हैं। सिंचाई के साधनों का अभाव, उपजाऊ भूमि की कमी के कारण ये लोग परंपरागत कृषि व्यवस्था को अपनाए रहे हैं। मध्यकाल में दक्षिण राजस्थान में वागड़ की जनजातियाँ दाजिया या झूमटों पद्धति से भूमि को साफ कर कृषि करने लगे। इस पद्धति के अंतर्गत जनजातियों द्वारा जंगलों को काट कर जला दिया जाता था। जलाए गए स्थान को कुंदाली, गैती आदि औजारों से समतल बना देते थे तथा बारिश के दिनों में जब भूमि में नमी बढ़ जाती, तब उन्हें औजारों से खोद कर बीज डाल देते थे। फसल बोने एवं काटने के समय एक कृषक को अन्य जनजातीय परिवार के सदस्य भी सहयोग देते थे। इस प्रकार के सहयोग को हल्मा⁷ कहा जाता था।

उन्नीसवीं शताब्दी में जनजातियों ने व्यवस्थित तथा स्थायी कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया। इस समय उन्होंने खेती के तरीकों में सुधार करते हुए लकड़ी से बने हल का उपयोग करना आरंभ किया। उन्होंने नए कुएँ खोदने के कार्य भी प्रारंभ किए। कृषि तथा अन्य कार्य को संयुक्त रूप से आपस में मिलकर किया जाने लगा।

आखेट -जनजातीय संस्कृति का जंगल से चोली-दामन का साथ रहा है। वनों के सहारे जनजातियों ने अपनी संस्कृति को विकसित किया। घने जंगलों में विचरण करते हुए उन्होंने जंगली जानवरों- शेर, भालु, जंगली सुअर, गेंडे, सर्प, अजगर, बिच्छु आदि से बचने के लिए आखेट का सहारा लिया। वनों एवं पहाड़ियों के आंतरिक भागों में रहते हुए भील जाति शिकार करके अपनी आजीविका चलाते थे। मध्यकाल में बाहरी आक्रमणकारियों ने इनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तब उनकी स्वतंत्रता का हनन हुआ। इससे पहले भील जनजाति जंगलों में झूम पद्धति से खेती पशुपालन, मजदूरी तथा आखेट स्वतंत्र रूप से करती है। आखेट के मामले में भील बड़े ही निपूण थे। इनका निशाना बड़ा अचुक होता था।⁸

वन संपदा का उपयोग

प्राचीन काल से जनजातीय लोग जंगलों को अपनी संपत्ति का प्रमुख अंग मानते हैं। भीलों का जीवन वनों पर ही आश्रित था। अपनी आजीविका के लिए वनों के संरक्षण में विभिन्न प्रकार की उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग करते थे। 18वीं शताब्दी में दक्षिणी राजस्थान में क्रमशः मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा रियासतों में वनों का सधन आवरण था। इन क्षेत्रों में पाए जाने वाले प्रमुख पेड़ों के नाम इस प्रकार थे- बबुल, बेर, चंदन, धोक, धामन, धावड़ा गुदी, हल्दी, इमली, जामुन, कजरी, खेजड़ी, खेड़ा, कुमटा, महुआ, नीम, पीपल, सागवान, आम, मुमटा, सालर, बानोटीया, गुलर, बांस आदि वृक्षों का घनघोर जंगल था। इन जंगलों से प्राप्त विविध सामग्री का निःशुल्क उपयोग करते थे तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।

लघु वन उत्पादित वस्तुएँ—दक्षिण राजस्थान के वनों में उत्पादित वस्तुओं में प्रमुख है- अरीठा, आंवला, गोंद, धावड़ा बबुल, खेर, केलडी, कडैया, आवर, सेलाई वृक्षों से करा, कत्था, लाख, मौम धोली व काली मुसली, शहद इत्यादि।⁹

जड़ी-बुटियाँ

जड़ीबुटियों का उपयोग जनजातीय लोग विभिन्न तरह के रोगों के निवारण के लिए करते थे, जिनमें प्रमुख-आंवला का बीज, हेतड़ी, आमोदा, आक, करनीया, ब्राह्मी बोहड़ा, रोंजडा, भोग पत्तिया धतुरा बीज हड भुजा, कनकी बीज, मेंण, अमरा, कोली, कादां, पडूला, गीगचा इत्यादि का उपयोग करते थे। आमोदा के बीजों को पीसकर खाने से दस्त बंद होती है। अरण्डी के तेल से मालिश एवं पत्तों को गर्म कर के कमर में बांधने से दर्द कम होता था। बुखार के लिए कडा वृक्ष के बीजों को पीस कर पीते थे।¹⁰ जोड़ों में दर्द के लिए ग्वार व सैजने के गोंद का उपयोग करते थे। फोडे फुन्सियों एवं चर्म रोग के लिए नीम के पत्तों को उबालकर पीते थे। इसके अतिरिक्त तुलसी लौंग, सोठ, पीपल, काली मिर्च का उपयोग बुखार एवं जुखाम के लिए करते थे।

व्यापार के रूप में उपयोग-व्यापार वाणिज्य के लिए जनजातीय लोग अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं को खरीदने के लिए तेंदु पत्ते का संग्रह करके बीड़ी बनाते थे तथा गोद रबड़ को अपने आस-पास के गाँवों कस्बों में बचने जाते थे। मुख्य रूप से खेर जैसने, धावड़े उदलरे आदि का गोंद यहाँ के जंगलों में मिलता था।¹¹ रस्सी बनाने के लिए खाकरा, जूट, पानी जुला सवा आदि। महुआ के फलों का तेल निकालने के अतिरिक्त खाने, शराब बनाने एवं कस्बों में बेचा भी जाता था। बाँस की लकड़ी छीलकर ये टोकरियाँ बनाने, सूप झांडू कोठियाँ पंखे सीढियाँ बनाकर बेचा करते थे। भील महिलाएँ घास एवं विभिन्न तरह की लघु वन संपत्ति को एकत्रित करके निकट कस्बों में बेचने जाती थी। भील इन सभी वस्तुओं की बिक्री स्थानीय हाटों एवं मेलों के माध्यम से भी करते थे। प्राचीन काल में गुजरात व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण बाजार था। इसकी सीमाएँ दक्षिणी राजस्थान के राज्यों से मिलती थी। अतः यहाँ के भील महुआ के फुल और धावड़ी गोंद को अहमदाबाद रतनपुर एवं बडोदा तक बेचने जाते थे।¹²

ईंधन के रूप में उपयोग-जलाने के लिए प्रमुख रूप से सांटेडा, काकुन, बबुल बावारिया, गुजर, बैर, धोंक की लकड़ी का उपयोग किया जाता था। अपने हथियार तीर-कमान बनाने के लिए सादेड़ा तथा बाँस

9. रिपोर्ट आन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ डूंगरपुर स्टेट, 1918, जिला सार्वजनिक पुस्तकालय, डूंगरपुर.

10. मेवाड़ गजेटियर, भाग 2 पृ.स. 121-124

11. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ डूंगरपुर स्टेट, 1939 पृ.स. 23

12. अर्सकिन मेवाड़ गजेटियर, भाग-2 पृ.स. 127, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, उदयपुर.

13. सिगलीगर, डॉ. लकड़ी का उपयोग किया जाता था। पशुओं का चारा कलम, जंगम जलेबी वीसी, सालर वोपारिया, पूनम वन एवं गुलर मौखा, नरम दाल मीठी छाल दूब, वनफल, आदि वनों से निःशुल्क प्राप्त होता था।¹³ कृषि कार्य मे आदिवासी समाज धामन, वावरिया, धावड़ा, नीम, सागवान बैर, बबूल, रेतुआ का उपयोग हल हमाडी, जोहरा बनाने के पृ.स. 61, 63 लिए किया जाता था। अपने मकान बनाने के लिए जनजातियाँ शीशम आदि की लकड़ी का उपयोग करते हैं।¹⁴ जंगलों से जनजातियों को प्रकृति द्वारा स्वच्छ वातावरण, स्वच्छ जल, नदियाँ, नाले झरने, पशु-पक्षियों का कोलाहल सीमित तापमान, हरियाली, आर्द्रता, समय पर वर्षा, मिट्टी कटाव से रोक, आंधी एवं तूफानों से रक्षा, प्राकृतिक खाद, बाढ़ पर नियंत्रण, वन्य प्राणियों का शिकार व मनोरंजन इत्यादि निःशुल्क उपलब्ध होते थे। इसलिए जनजाति की संस्कृति में प्रकृति का हमेशा घनिष्ठ सांमजस्य रहा है।
14. एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ द मेवाड़ स्टेट, 1904-05, पृ.स. 10
15. अर्सकिन, मेवाड़ के डी गजेटियर पृ.स. 131
16. पलात, रामचन्द्र. वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से आदिवासियों की अर्थव्यवस्था को गति एवं (1987). राजस्थान की संस्कृति को गरिमा प्रदान होती रही है। वस्तुतः वन आदिवासियों के पोषक रहे हैं, जिनसे उन्हें विभिन्न वनविहारी जनजातीय. प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे- ईंधन, मवेशियों के लिए चारा, मकान निर्माण के लिए लकड़ी, खाद, झोथरी : श्री नीलकमल फल-फूल, सब्जियों, खाने योग्य कंद-मूल विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ जड़ी-बूटियाँ अनेक वाणिज्य पलात एण्ड ब्रदर्स पाल. उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुएँ आदि प्राप्त हुए। अप्रत्यक्ष लाभ-स्वच्छ और शीतल वायु, पक्षियों का पृ.स. 64-67 कलरव संतुलित तापमान, समय पर वर्षा हरियाली, खुशबू आधी ओर तूफान से रोक तथा बाढ़ आदि से बचाव भी होता रहा है।
17. जैन, श्रीचंद. एस. एन. व्यास के अनुसार सन् 1948 में राजस्थान के गठन के बाद जनजातियों को 1749-55 की (1974). वनवासी भील और उनकी संस्कृति समयवधि में वनों के उपयोग की अधिक सुविधाएँ प्रदान की गईं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं-
- रोशनलाल जैन एण्ड संस. जयपुर, द्वितीय संस्करण, 104-106

1. हर जनजाति परिवार को हर तीन साल में मकान निर्माण के लिए 158 घन फीट लकड़ी और कृषि उपकरणों हेतु 15 घन फिट काष्ठ;
2. मुफ्त ईंधन;
3. वन क्षेत्र में मवेशियों को चराने की अनुमति;
4. घेराबंदी के लिए मुफ्त झाड़ियाँ; तथा
5. घास एवं पत्तियों का चारा मुफ्त आदि।

वर्तमान में वन विभाग द्वारा आरक्षित एवं सुरक्षित वनों पर भी आदिवासीयों के अधिकार लुप्त हो गए हैं। वनों एवं उनकी रियायतों पर प्रतिबंध लगा दिए तथा इनका उल्लंघन करने वालों को उचित दंड का प्रावधान रखा गया परिणामस्वरूप राज्य के विभिन्न आदिवासी लोग वन उत्पादित वस्तुओं से वंचित हो रहे हैं।¹⁷

वनों का आर्थिक महत्व

वनों से कई लाभ होते हैं, जैसे- जलवायु को कम व सम बनाना, वर्षा आकर्षित करना, बाढ़ व आँधीयों के प्रकोप को कम करना भूमि क्षरण को नियंत्रित रखना, वनस्पति अंश प्रदान करके मिट्टी में हामुस तत्व के द्वारा उत्पादकता बढ़ाना, भूमिगत जल स्तर को बनाए रखना, वन जीवों को संरक्षण प्रदान करना, वन

वर्षा के समय जल के प्रवाह को नियंत्रित करते हैं तथा मृदा अपरदन एवं बाढ़ की समस्याओं पर नियंत्रण रखने के लिए प्रभावी भूमिका निभाते हैं। ये वनस्पति एवं जीव जगत की अनेक प्रजातियों को संरक्षण प्रदान करते हैं।¹⁸

वनों के विनाश से इन सभी लाभों से मानवता वंचित होती जा रही है। अत्यधिक आर्थिक महत्व होने से आधुनिक युग में वनों का अदूरदर्शितापूर्ण ढंग से दोहन किया जा रहा है। विश्व पर्यावरण एवं विकास आयोग के अनुसार विश्व में प्रतिवर्ष 110 लाख हैक्टर भूमि के वन नष्ट किए जा रहे हैं, पर्यावरण विशेषज्ञ के अनुसार प्रत्येक देश में उपलब्ध भूमि के लगभग 33 प्रतिशत भाग पर वन होना आवश्यक है। भारत में केवल 19 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन पाए जाते हैं। राजस्थान में कुल क्षेत्रफल का 9.49 प्रतिशत भाग वनों से आच्छादित है। राजस्थान में कुल वन क्षेत्र का 39.26 प्रतिशत आरक्षित वन 52.62 प्रतिशत रक्षित वन और 8.48 प्रतिशत अवर्गीकृत वन है। राज्य में प्रति व्यक्ति 0.06 हेक्टेयर वन क्षेत्र ही है जो राष्ट्रीय स्तर पर 0.11 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति से कम है।¹⁹

मानव अपने स्वार्थवश भौतिक उन्नति के उद्देश्य से वनों का दोहन करता रहा है। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव द्वारा भौतिक संसाधनों का प्रयोग जब तक केवल अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति तक संयमित रहा है, तब तक पर्यावरण और पारिस्थितिकीय संतुलन बना रहा है, लेकिन आधुनिक काल में तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या से ऐसी विकट परिस्थिति पैदा हो गई है कि वन संरक्षण के बारे में सोचना आवश्यक हो गया है। पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए देश में प्रतिवर्ष-वन महोत्सव व साथ ही मार्च में विश्व वानिकी दिवस तथा अक्टूबर के प्रथम सप्ताह को वन्य जीव सप्ताह के रूप में मनाया जाता है। इसमें कोई दो मत नहीं है कि वन और वन्य प्राणियों का विनाश मानवता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण स्थित का सूचक है, क्योंकि वन्य जीवन के बिना वनों की कोई सार्थकता नहीं है और वनों के बिना हम जीव-जगत का अस्तित्व नहीं हो सकता।

18. दोसी, डॉ. भाम्भुलाल एवं व्यास, डॉ. नरेन्द्र एन. (1992). राजस्थान की अनुसूचित जनजातियाँ.

उदयपुर : हिमांशु पब्लिकेशन्स. पृ.स. 69-72

19. कपूर, सुभाषिनी. (1990). राजस्थान के भील और लोक संस्कृति. दिल्ली: सन्मार्ग प्रकाशन, पृ.स. 35

लेखक परिचय

कान्तिलाल निनामा

शोधार्थी

म.द.स.वि.वि. अजमेर

